# गरीबों की आजीविका की कीमत पर पर्यावरण-संरक्षण क्यों?

पर्यावरणवादिता के बदनुमा पक्ष ने अपना सिर उठाना पुनः शुरु किया है। विगत दो वर्षों और खासतौर से १९९६ के साल के दौरान पर्यावरण के मामले में ऐसी ढेरों कार्रवाइयाँ हुई हैं जिन्हें पहली निगाह में तो सराहने की इच्छा होती है लेकिन उनके निहितार्थ कई मायनों में गंभीर चिंताएँ पैदा करते हैं। यदि पर्यावरण आंदोलन ने इन बारीकियों को जल्द समझकर तत्काल उनसे निपटने का प्रयास नहीं किया तो वह अपनी वह गति और विश्वसनीयता खो बैठेगा जो उसने बीते बरसों में अर्जित की है।

औद्योगिक देशों के विपरीत भारत जैसे देशों में प्राकृतिक पर्यावरण न केवल उसके सौंदर्य बोधीय तथा मनोरंजन, ताजा हवा, जलवायु,-नियमन जैसे परोक्ष लाभों की दृष्टि से महत्वपूर्ण है, बल्कि वह करोड़ों देशवासियों के जीवन का तो आधार ही है। ये वे लोग हैं जो यहां की भूमि, वनों, जल-क्षेत्रों, वन्य-जीवन तथा अन्य प्राकृतिक स्रोतों के जरिये अपनी रोज की आजीविका कमाते हैं। जहां, प्रकृति का खुद उसी की खातिर संरक्षण करना हमारी नैतिक तथा कानूनी जिम्मेदारी है, वहीं उसके संरक्षण के प्रयासों के चलते हमें गरीबों की आजीविका और अस्तित्व संबंधी जरूरतों का भी ख्याल रखना होगा।

माना कि शहरी श्रेष्ठी वर्ग की सौंदर्यबोध तथा मनोरंजन संबंधी जरूरतें भी वाजिब हैं, तथापि उन्हें गरीबों के अधिकारों की कीमत पर पूरा नहीं किया जाना चाहिए। दुर्भाग्यवश, हाल ही में उठाए गए बहुत से कदमों से ठीक यही हुआ है।

मिसाल के लिए, कुछ उत्साही वकीलों, खासतौर से एम.सी. वर्मा की प्रेरणा पर उच्चतम न्यायालय ने न्यायिक सक्रियता प्रदर्शित करते हुए जो कुछ फैसले दिए हैं उनका प्रभाव बहुत व्यापक और दूरगामी होगा। दिल्ली के कोई १५०० प्रदूषण फैलाने वालों उद्योगों को बंद करने तथा दिल्ली ''रिज आरक्षित-वन'' से सारे अतिक्रमणों को उखाड़ फेंकने के आदेश इसके ही उदाहरण हैं।

पर्यावरण संगठन कल्पवृक्ष जिसने कि आज से सत्रह वर्ष पूर्व दिल्ली रिज को अतिक्रमण से बचाने का बीड़ा उठाया था, के एक सदस्य की हैसियत से मैं न्यायमूर्ति श्री कुलदीप सिंह के इन फैसलों की तारीफ करता हूँ लेकिन ऐसा करते हुए मुझे सोचकर थोड़ा संकोच भी होता है कि क्या हमने यह भी सोचा है कि महानगर की आबादी के उस वर्ग पर इन फैसलों का असर क्या होगा जो इन आदेशों से अकारण पीड़ित हुए हैं?

उक्त प्रदूषणकारी उद्योगों में, सरकारी आंकड़ों के मुताबिक कोई १५,००० मजदूर काम करते हैं। अनधिकृत जानकारी के अनुसार उनकी संख्या इससे दुगनी है। अदालत के आदेश में तो कहा गया है कि इन कामगारों को उक्त कारखानों द्वारा उनकी नई जगहों पर फिर से काम पर रखा जाएगा लेकिन बहुत-सी कंपनियां तो अपना कारोबार बंद कर रही हैं। कामगारों को जो नकद मुआवजा मिलेगा वह रोजगार का स्थानापन्न तो हो नहीं सकता। कामगारों के भविष्य के प्रति दिखलाई गई इस निष्ठुरता को लेकर मजदूर संघों की नाराजगी जहां वाजिब है वहीं मेरे जैसे पर्यावरणवादी इससे अविचलित नजर आ रहे हैं।

बीसवीं सदी ने वन्य-जीवन संरक्षण सरोकारों के कारण संरक्षित क्षेत्रों का जाल बिछा दिया है। भारत में कोई ५२१ राष्ट्रीय उद्यानों तथा अभयारण्यों की मदद से देश के बचे-खुचे प्राकृतिक-रहवासों तथा वन्य-जीवन को बचाने के प्रयास किए जा रहे हैं। लेकिन दिक्कत यह है कि इन्हीं इलाकों में कई ऐसे परंपरागत आदिवासी तथा ग्रामीण समुदाय भी बसते हैं जो अब लुप्तमान हैं और उनको बचाना भी उतना ही जरूरी है। बदकिस्मती, शहरों से संरक्षण के मामले में सख्ती बरतने की जो मांग उठती है उसके परिणाम स्वरूप हजारों लोगों को जबरन बेदखल किया गया है तथा गरीबों की उनके द्वारा उपयोग किए जाने वाले ईंधन, दाना-चारा तथा आजीविका के साधनों तक पहुँच में कतर-ब्यौंत हुई है। इन सख्तियों का निशाना राजा जी राष्ट्रीय उद्यान में खानाबदोश गुजरों तथा रस्सी बांटने वालों को बनाया गया, तो गिर वनों में पशुपालक मालधारियों को निकाल बाहर कर दिया गया है।

केवलादेव (भरतपुर) राष्ट्रीय उद्यान में चरवाहों को अब उनकी भैंसे भीतर लाने की इजाजत नहीं दी जाती। पेंच राष्ट्रीय उद्यान में एक याचिका के अधीन तोतलादेह सरोवर में मछली पकड़ने पर स्थगन प्राप्त कर लिया गया है जब कि संरक्षणवादियों ने यह दलील तो ठीक ही दी थी कि गैर कानूनी मत्स्य आखेट से लाभान्वित वास्तव में व्यापारी वर्ग हो रहा था।

लेकिन वे इस तथ्य को शायद नजरंदाज कर गए कि इस स्थगन से हजारों मछुआरे परिवार बेरोजगार हो गए। इस पेंच-याचिका के फैसले में भी दिल्ली के प्रदूषण उद्योगों तथा 'रिज फॉरेस्ट' की तरह ही इस प्रकार की पर्यावरण कार्रवाईयों से पीड़ित लोगों को कोई राहत नहीं दिलवाई जा सकी हैं।

सवाल इन कार्रवाईयों की नौबत लाने वाले पर्यावरणवादियों की नीयत पर शक करने का नहीं है, क्योंकि वे यह सब लाचार होकर तात्कालिक नतीजे हासिल करने के उद्देश्य से ही कर रहे हैं, लेकिन इन कार्रवाईयों में कुछ बहुत बड़ी-बड़ी खामियाँ भी हैं। मसलन, पर्यावरण को बचाने के लिए नौकरशाही की कार्रवाईयों पर उन्हें पूरा भरोसा है, जबकि वे अच्छी तरह जानते हैं कि इसके लिए सरकार के पास न तो पर्याप्त इच्छा शक्ति है न संसाधन। वे प्राकृतिक रहवासों को 'बियाबान इलाकों' की तरह देखते हैं जबकि वे ज्यादातर ऐसे इलाके हैं जिनके सहारे लोग अपना जीवन निर्वाह करते हैं।

वे यह भी सोचते हैं कि इन संरक्षित इलाकों में संसाधनों का हर प्रकार का उपयोग जैव-विविधता को नुकसान पहुँचाने वाला ही होगा जबकि उसी जगह पर्यटन को बढ़ावा देते वक्त उन्हें कोई संकोच नहीं होता और उसे 'इको-पर्यटन' कह वे अपनी अंतरात्मा को संतुष्ट कर लेते हैं! सबसे बड़ा धब्बा तो खुद इन्हीं पर इसी वजह से लगता है कि वे इस प्रकार के पर्यटन में हिस्सेदार बनकर ऐसे संसाधनों पर ऐसी मांगे थोपते हैं जो देश की कतिपय सबसे ज्यादा विनाशकारी परियोजनाओं का कारण बनती हैं। दिल्ली में हम ''रिज'' को इसलिए बचाना चाहते हैं कि वह नगर के फेफड़े की तरह कार्य करते हुए उस विषाक्त धुएं और प्रदूषण से वातावरण को मुक्त करे जो हम रोजाना अपनी कारों से उत्सर्जित कर रहे हैं।

लेकिन इसकी तकलीफ उन गरीबों को झेलनी पड़ रही है जिनके पास न तो कोई कार अब है न भविष्य में कभी होगी। हम लोग खुद तो आरामदेह काक्रीट मकानों में रहना चाहते हैं, लेकिन हमसे उन्हीं गरीबों के घांस-फूंस के टप्पर भी बर्दाश्त नहीं होते, जिन्होंने हमारी अट्टालिकाएं बनाई हैं। क्योंकि वे उन इलाकों में स्थित हैं जिन्हें उन्होंने अपने मनोरंजन के लिए 'हरित कमरबंद' घोषित करवा लिया है।

हमें ऐसे आँख को खटकने वाले उद्योग नहीं चाहिए, जिनके द्वारा उत्पादित माल का हम मजे से उपयोग करते हैं, लेकिन हमें इस बात पर कोई एतराज नहीं होता कि अन्यत्र किसी ग्रामीण इलाके में स्थानांतरित हो यही कारखाने वहां के हवा-पानी को प्रदूषित कर कृषि भूमियों से लोगों को जबरन बेदखल कर देंगे।

• आशीष कोठारी